



शिक्षा का अधिकार

डॉ. विनोद रायना

समाज के वंचित व हाशिए पर पड़े तबकों में बढ़ी हुई राजनैतिक चेतना का परिणाम है कि आज समावेशी शिक्षा की मांग चरम पर है। शिक्षा का अधिकार सम्बंधी विधेयक दिसंबर में राज्य सभा में पेश किया गया। मगर प्रस्तावित विधेयक पर एक सरसरी निगाह डालने भर से इसमें कुछ अहम खामियां नज़र आ जाएंगी।

हाल ही में 15 दिसंबर 2008 को राज्य सभा में निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार विधेयक पेश किया गया। यह 1937 में महात्मा गांधी द्वारा सभी के लिए शिक्षा के आह्वान के करीब 71 साल बाद, आज़ादी के 61 साल बाद, संविधान लागू होने के 58 साल बाद, शिक्षा के अधिकार पर 1993 में सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के 15 साल बाद और वर्ष 2002 में संसद द्वारा 6 से 14 साल तक के बच्चों के लिए शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने के वास्ते धारा 21ए जोड़ने के छह साल बाद आया है। सरकार के स्तर पर इतना विलंब निदनीय है मगर देर आयद, दुरुस्त आयद।

आज जो देश शैक्षणिक रूप से विकसित हैं, उन्हींने यह उपलब्धि शिक्षा को कानूनी रूप से निःशुल्क व अनिवार्य बनाकर ही हासिल की है (ब्रिटेन ने तो 1870 में ही यह कदम उठा लिया था)। लेकिन भारत इसमें काफी पीछे रह गया है। उसे इसके गंभीर नतीज़े भी भुगतने पड़े हैं। देश में 6 से 14 साल की उम्र के करीब 20 करोड़ बच्चों में से आठ वर्ष की प्रारंभिक शिक्षा भी पूरी नहीं कर पाते। जो बच्चे यह शिक्षा पूरी कर भी लेते हैं, उनमें भी एक बड़ी संख्या ऐसे बच्चों की रहती है

जिनमें भाषा व गणित का स्तर बेहद दयनीय होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि उपलब्धियों से वंचित अधिकांश लोग समाज के सबसे पिछड़े वर्गों - दलित, ओबीसी, आदिवासी,

महिला, मुस्लिम तबके से होते हैं। ये ही वे लोग हैं जिनका शिक्षा के माध्यम से सशक्तिकरण किए जाने की सबसे ज़्यादा ज़रूरत है।

समाज के वंचित व हाशिए पर पड़े तबकों में बढ़ी हुई राजनैतिक चेतना का परिणाम है कि आज समावेशी शिक्षा की मांग चरम पर है। मगर प्रस्तावित विधेयक पर एक सरसरी निगाह डालने भर से इसमें कुछ अहम खामियां नज़र आ जाएंगी।

संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार संधि पर हस्ताक्षर करने की वज़ह से भारत ने भी बच्चे की अंतरराष्ट्रीय परिभाषा स्वीकार की है जिसके अनुसार 18 साल की उम्र तक का व्यक्ति 'बच्चा' होता है। प्रस्तावित विधेयक में 6 से 14 साल की उम्र तक के बच्चों को ही निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा के दायरे में लाया गया है जो स्पष्ट रूप से 0 से 6 साल और 14 से 18 साल की उम्र के बच्चों के अधिकारों का उल्लंघन है। समस्या की जड़ में 86वां संविधान संशोधन और धारा 21ए है जो 6 से 14 साल की उम्र वालों को ही बच्चे के रूप में परिभाषित करती है। इसलिए यह साफ है कि यह विधेयक धारा 21ए की परिधि से बाहर नहीं जा सकता और यदि इसकी इस

विसंगति को दूर करना है तो 86वें संविधान संशोधन में फिर से संशोधन करना होगा।

कुछ लोगों का मानना है कि इस विधेयक को तब तक के लिए ताक पर रख देना चाहिए जब तक

कुछ लोगों का मानना है कि इस विधेयक को तब तक के लिए ताक पर रख देना चाहिए जब तक कि 86वें संविधान संशोधन में फिर से संशोधन न हो जाए। लेकिन ऐसा करना तो उन तत्वों के हाथों में खेलना होगा जो न तो संशोधन चाहते हैं और न ही विधेयक।

कि 86वें संविधान संशोधन में फिर से संशोधन न हो जाए। लेकिन ऐसा करना तो उन तत्त्वों के हाथों में खेलना होगा जो न तो संशोधन चाहते हैं और न ही विधेयक। ये तत्व नहीं चाहते कि शिक्षा पर सरकार इतना खर्च करे। इसलिए वे ऐसे समय में संविधान संशोधन करने की बात कर रहे हैं जब संसद में उसके लिए पर्याप्त बहुमत मिलना लगभग असंभव है।

शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने के संदर्भ में यहां एक सवाल यह भी उठ रहा है कि संसद में पेश किए गए इस विधेयक से स्थिति में संतोषजनक ढंग से सुधार होगा या नहीं। इस सवाल का जवाब देने से पहले हमें उस चुनौती से निपटना होगा जो सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा मुहैया करवाने की राह में खड़ी है। यह चुनौती शिक्षा की पहुंच, समता और गुणवत्ता के त्रिकोण के रूप में है। विधेयक का मूल्यांकन इस त्रिकोणीय चुनौती के संदर्भ में किए जाने की ज़रूरत है।

शिक्षा की पहुंच का मूलभूत पहलू यह है कि स्कूल तक प्रत्येक बच्चे की पहुंच होनी चाहिए क्योंकि देश में अब भी ऐसे बहुत से इलाके हैं जहां ऐसी पहुंच का अभाव है। विधेयक में कहा गया है कि इसके कानून बनने की तारीख के तीन साल के भीतर ऐसे प्रावधान किए जाएंगे कि प्रत्येक बच्चे के आसपास स्कूल हो सके। वैसे इसके बावजूद इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि हर बच्चा स्कूल जाने ही लगेगा। खासकर गरीबों के संदर्भ में यह बात काफी मायने रखेगी कि शिक्षा पर खर्च कितना होगा। गरीबों व समाज के वंचित तबकों के बच्चों के स्कूल जाने के मार्ग में एक बड़ी बाधा स्कूली खर्च की भी होती है।

यहीं पर धारा 21ए का एक पहलू भूमिका निभा सकता है जिसके अनुसार सरकार को 'निःशुल्क' शिक्षा मुहैया करवानी चाहिए। 'निःशुल्क' शिक्षा से अक्सर यही मतलब लगाया जाता है कि

अभिभावकों को फीस नहीं चुकानी होगी, लेकिन अनेक अध्ययनों में साफ हुआ है कि फीस के अलावा भी कई प्रकार के खर्च होते हैं।

विधेयक में 'निःशुल्क' शिक्षा के प्रावधान के तहत फीस सहित उन सभी खर्चों की ज़िम्मेदारी सरकार पर डाली गई है जिनकी वज़ह से बच्चे शिक्षा से वंचित रहते हैं।

चूंकि भूमिहीन, गरीब और वंचित तबके के लोग इन खर्चों को चुकाने में असमर्थ होते हैं, इसलिए वे अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज पाते।

ये अतिरिक्त खर्च अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग हो सकते हैं। इनमें यूनिफार्म, कॉपी-किताबों का खर्चा इत्यादि शामिल होता है। विधेयक में 'निःशुल्क' शिक्षा के प्रावधान के तहत फीस सहित उन सभी खर्चों की ज़िम्मेदारी सरकार पर डाली गई है जिनकी वज़ह से बच्चे शिक्षा से वंचित रहते हैं। इस प्रकार निःशुल्क शिक्षा की इस व्यापक परिभाषा से सरकार के कंधे पर बोझ तो बढ़ जाएगा, लेकिन बच्चों की स्कूल तक पहुंच बेहतर बन सकेगी।

स्कूलों में बच्चे बने रहें इसके लिए गुणवत्ता की भी विशेष भूमिका होती है। हाल के वर्षों में स्कूलों में नामांकन की उच्च दर के बावजूद बच्चों के बड़ी संख्या में स्कूल छोड़ने से साफ है कि गुणवत्ता के पहलू की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

जब से जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम और सर्व शिक्षा अभियान के जरिए लागत कटौती करने के उद्देश्य से शिक्षा गारंटी केंद्रों और अप्रशिक्षित पैरा-टीचर्स के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने की रणनीति अख्तियार की गई है, तब से गुणवत्ता की समस्या विकराल ही हुई है। सरकारी स्तर पर ही अब कई तरह के संस्थान जैसे ईजीएस केंद्र, बस्ती स्कूल, वैकल्पिक स्कूल, केंद्रीय विद्यालय, सर्वोदय विद्यालय, नवोदय विद्यालय इत्यादि काम कर रहे हैं जिससे शिक्षा की उपलब्धता में विसंगतियां पैदा हो रही हैं। इससे साफ है कि प्रत्येक संस्थान तक बच्चे की पहुंच उसकी सामाजिक व वर्गीय पृष्ठभूमि से तय होती है।

इस प्रकार जहां शिक्षा का उद्देश्य सभी समाजों व वर्गों के बच्चों को एक ही छत के नीचे संगठित करना

था, उसके उलट यह सामाजिक व वर्गीय विभाजन को और भी गहरा करने का माध्यम बन गई है। इसलिए इस बात में कोई अचरज नहीं होना चाहिए कि गरीबी के

बावजूद शहरी व ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में अभिभावक निजी स्कूलों की ओर आकर्षित हो रहे हैं जहां उन्हें शिक्षकों की नियमित उपस्थिति और गुणवत्ता दोनों ही नज़र आती है।

विधेयक में स्कूलों में न्यूनतम ढांचागत सुविधाओं का प्रावधान करके गुणवत्ता की समस्या का समाधान ढूँढने का प्रयास किया गया है। इसमें सभी स्कूलों में न्यूनतम कमरों, पुस्तकालय, सीखने-सिखाने की सामग्री, लड़कों व लड़कियों के लिए अलग-अलग बाथरूम, पेयजल की सुविधा और खेल मैदान की उपलब्धता के मानदंड निर्धारित किए गए हैं। साथ ही शिक्षक-छात्र अनुपात और प्रति सप्ताह व प्रति वर्ष शिक्षण के घंटे भी तय किए गए हैं। इस विधेयक में यह भी प्रावधान किया गया है कि शिक्षक-छात्र अनुपात को प्रखंड या जिला स्तर के औसत की बजाय प्रत्येक स्कूल के स्तर पर बनाए रखा जाए। ब्लॉक या जिला स्तर पर औसत शिक्षक-छात्र अनुपात की बात करते हैं तो शहरों व दूरस्थ ग्रामीण इलाकों के बीच शिक्षकों की संख्या में विषमता की स्थिति उत्पन्न होती है।

विधेयक के जिस प्रावधान को अमल में लाना बड़ा मुश्किल नज़र आ रहा है, वह है राष्ट्रीय मानदंडों के आधार पर शिक्षकों की नियुक्ति। विधेयक के कानून बनने के पांच साल के भीतर ये मानदंड एक राष्ट्रीय एजेंसी द्वारा निर्धारित किए जाएंगे। पिछले 15 साल के दौरान जितने बड़े पैमाने पर अप्रशिक्षित शिक्षकों की भर्ती की गई है, उसके मद्देनज़र राज्य सरकारों को इस प्रावधान पर अमल करने के लिए शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम का पूरी तरह से कार्याकल्प करना होगा। यह भविष्य में सरकारी

स्कूलों की गुणवत्ता सुनिश्चित करने में अहम भूमिका निभाएगा।

शिक्षकों की योग्यता के अनुरूप उनके लिए वेतन व अन्य सुविधाओं का प्रावधान करते हुए विधेयक में शिक्षकों के विशिष्ट कर्तव्य व दायित्व भी तय किए गए हैं, ताकि स्कूल में उनकी

नियमित उपस्थिति व स्कूलों से उनके जुड़ाव को सुनिश्चित किया जा सके। चुनाव व जनगणना में ड्यूटी के अलावा शिक्षकों से अन्य शिक्षणोत्तर कार्य करवाने पर यह विधेयक प्रतिबंध लगाता है। उम्मीद की जा सकती है कि ढांचागत सुविधाओं के विस्तार और शिक्षकों की गुणवत्ता सुनिश्चित होने से सरकारी स्कूलों की बदहाली पर विराम लग सकेगा।

स्कूल प्रणाली का प्रबंधन लंबे अर्से से विवाद का विषय रहा है। खासकर यह साफ हो जाने के बाद कि मौजूदा नौकरशाही तंत्र से स्थानीय स्तर पर बात बनती नहीं है, कई राज्यों ने पंचायती राज प्रणाली का सहारा लिया। इसके परिणाम मिले-जुले रहे हैं। विधेयक में प्रबंधन के सिलसिले में राय देने के लिए पालकों की भूमिका भी सुनिश्चित की गई है, लेकिन आम तौर पर देखने में आता है कि अच्छे स्कूलों में भी प्रबंधन के मामलों में पालक-शिक्षक संघों को कोई खास तवज्जो नहीं दी जाती है।

स्कूलों के प्रबंधन में स्थानीय संस्थाओं (ये स्थानीय संस्थाएं पंचायती राज संस्थाएं या राज्य सरकार द्वारा अधिकृत कोई भी संस्था हो सकती हैं) की भूमिका को स्वीकारते हुए अनिवार्य किया गया है कि प्रत्येक सरकारी स्कूल का प्रबंधन एक 'स्कूल प्रबंधन समिति' (एसएमसी) करेगी जिसके तीन-चौथाई सदस्य सम्बंधित स्कूल में अध्ययनरत बच्चों के अभिभावक होंगे, विशेषकर कमज़ोर व वंचित वर्ग के बच्चों के माता-पिता। एसएमसी को ही स्थानीय अधिकारियों के साथ मिलकर स्कूल की निगरानी, नियोजन व प्रबंधन करना होगा। विधेयक के

शुरुआती मसौदे में कहा गया था कि शिक्षकों का वेतन भी एसएमसी ही वितरित करेगी, लेकिन शिक्षक संघों के विरोध के चलते इस प्रावधान को हटा दिया गया है।

यह सही है कि जहां तक लागत का सवाल है, तो वह

सरकारी स्तर पर ही कई तरह के संस्थान जैसे ईजीएस केंद्र, बस्ती स्कूल, वैकल्पिक स्कूल, केंद्रीय विद्यालय, सर्वोदय विद्यालय, नवोदय विद्यालय इत्यादि काम कर रहे हैं। जहां शिक्षा का उद्देश्य सभी समाजों व वर्गों के बच्चों को एक ही छत के नीचे संगठित करना था, उसके उलट यह सामाजिक व वर्गीय विभाजन को और भी गहरा करने का माध्यम बन गई है।

ढांचागत सुविधाओं और शिक्षकों की गुणवत्ता पर ज़्यादा लगती है, लेकिन इनसे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण है पाठ्यक्रम का निर्धारण (डिज़ाइन) और कक्षाओं में उसका क्रियान्वयन। बच्चों को किस तरह के मूल्य पढ़ाए जा रहे हैं, शिक्षा देने का तरीका क्या है, शिक्षा का माध्यम क्या है वगैरह भी ऐसे मुद्दे हैं जो शिक्षा के उद्देश्य से काफी निकटता से जुड़े हैं। वैसे सामाजिक व सांस्कृतिक विविधता वाले देशों में आजकल शिक्षा में सार्वभौमिक गुणों की अपेक्षा समतामूलक शिक्षा पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है मगर यह गंभीर विवाद का विषय है।

बाज़ार अर्थव्यवस्था और नव-उदार विचारधाराओं के समर्थकों में समतामूलक शिक्षा की धारणा को लेकर धैर्य नहीं है और वे चाहते हैं कि जितनी जल्दी हो सके ऐसे कौशल और नज़रिए विकसित किए जाएं, जो एक अच्छा उपभोक्ता या 'वैश्विक नागरिक' बनाने में मददगार साबित हों। इसके लिए अंग्रेज़ी, कंप्यूटर का ज्ञान इत्यादि ज़रूरी होगा।

फिर मूल्यों का सवाल भी आता है। यदि संविधान के अनुरूप चलें तो लोकतंत्र, समानता, बोलने की स्वतंत्रता, वैज्ञानिक मिज़ाज, धर्मनिरपेक्षता, मानवाधिकार इत्यादि मूल्यों को प्रोत्साहित करना पड़ेगा।

जब विधेयक का मसौदा तैयार किया जा रहा था, उस समय एक विचार यह था कि प्रस्तावित कानून को ढांचागत सुविधाओं और प्रबंधन सम्बंधी पहलुओं तक ही सीमित रखा जाना चाहिए और पाठ्यक्रम, पढ़ाने के तरीकों जैसे मामलों से उसे दूर ही रहना चाहिए। लेकिन कुछ अन्य लोगों का मानना था कि विधेयक में पाठ्यक्रम और शिक्षा प्रक्रिया सम्बंधी ऐसे सिद्धांत भी शामिल करने चाहिए जिनका पालन अनिवार्य बनाया जा सके। विधि मंत्रालय पहले वाले विचार से सहमत था क्योंकि उसका ख्याल था कि कक्षा कार्य सम्बंधी मामलों को न्यायाधीन बनाने में दिक्कतें हैं। मगर अंततः विधेयक में

विषय वस्तु और शिक्षा की प्रक्रिया सम्बंधी अध्याय को बनाए रखा गया और साथ ही विद्यार्थियों को मानसिक प्रताड़ना और शारीरिक दंड देना पूरी तरह से प्रतिबंधित किया गया।

विधेयक का मसौदा तैयार करते समय निजी गैर सहायता प्राप्त स्कूलों की ज़िम्मेदारियों को लेकर भी गहरे मतभेद उभरे। एक वर्ग का मानना था कि धारा 21ए के अनुसार राज्य को अनिवार्य रूप से सभी को निःशुल्क शिक्षा उपलब्ध करवाना है, जिसका मतलब है कि जिन स्कूलों को सरकारी सहायता नहीं मिलती, उन पर यह धारा लागू नहीं होती। इसलिए ऐसे स्कूलों को इस विधेयक के दायरे से बाहर रखा जाना चाहिए। लेकिन दूसरे वर्ग का तर्क था कि फीस लेने वाले निजी स्कूल उस 'निःशुल्क एक-समान स्कूल' की अवधारणा के मार्ग में बाधक हैं जो राष्ट्रीय विकास का एकमात्र आधार बन सकती है और जिसका उल्लेख 1966 में कोठारी आयोग ने भी अपनी रिपोर्ट में किया था। इसलिए उन्हें भी विधेयक के दायरे में लाना ज़रूरी है। एक मांग ऐसी विधिक प्रणाली के विकास की भी की गई जो कुकुरमुत्तों की तरह फैलने वाले व्यावसायिक स्कूलों को नियंत्रित कर सके। कई लोगों का मानना है कि ये स्कूल अच्छी शिक्षा प्रदान करने के नाम पर जनता को लूटने में लगे हैं।

विधेयक के अंतिम मसौदे में अंततः गैर सहायता प्राप्त निजी स्कूलों और केंद्रीय व नवोदय जैसे विशेष सरकारी स्कूलों से आह्वान किया गया कि वे पहली कक्षा में 25 फीसदी दाखिला समाज के वंचित तबकों के उन बच्चों को दें जो स्कूल के आसपास रहते हैं। ऐसे बच्चों को आठवीं

विधि मंत्रालय का विचार था कि इस कानून को ढांचागत सुविधाओं और प्रबंधन सम्बंधी पहलुओं तक ही सीमित रखा जाना चाहिए लेकिन अन्य लोगों का मानना था कि पाठ्यक्रम और शिक्षा प्रक्रिया सम्बंधी सिद्धांत भी शामिल करने चाहिए जिसे अंततः माना गया और साथ ही विद्यार्थियों को मानसिक प्रताड़ना और शारीरिक दंड देना पूरी तरह से प्रतिबंधित किया गया।

कक्षा तक निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाए। प्रति विद्यार्थी खर्च का भुगतान सम्बंधित राज्य सरकार द्वारा किया जाएगा, जो सरकारी स्कूल में प्रति विद्यार्थी खर्च के बराबर होगा।

कोई भी स्कूल कैपिटेशन फीस नहीं ले सकेगा और न ही बच्चों या उनके माता-पिता का इंटरव्यू लिया जाएगा। बच्चों का चयन रैंडम आधार पर किया जाएगा। इसका उल्लंघन करने पर दोषी स्कूल को दंडित किया जाएगा। सरकारी और निजी सभी स्कूलों के लिए नियामक व्यवस्था के शुरुआती सुझाव को सर्वसम्मति नहीं बनने पर छोड़ दिया गया। दोनों ही खेमों में इस प्रावधान को लेकर बेवैनी थी। निजी स्कूलों की लॉबी का मानना था कि यह उनके अधिकार क्षेत्र में दखल होगा।

विधेयक में 'अनिवार्य' शब्द की परिभाषा काफी अहम है। 'अनिवार्य शिक्षा' की प्रचलित परिभाषा, जिसका मैरन विनर की प्रसिद्ध पुस्तक 'द चाइल्ड एंड द स्टेट इन इंडिया' में भी समर्थन किया गया है, के अनुसार बच्चों को स्कूल में दाखिला दिलाने की ज़िम्मेदारी अभिभावकों की है। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो उन्हें दंडित किया जाना चाहिए। एनडीए के शासनकाल में तैयार किए गए विधेयक के प्रारंभिक मसौदे में इसी प्रकार का प्रावधान किया गया था। इसके पक्ष में एक तर्क यह दिया गया था कि इससे अभिभावक अपने बच्चों को बाल श्रम में झोंकने के प्रति हतोत्साहित होंगे।

मौजूदा विधेयक में इससे अलग राय व्यक्त की गई है। इसमें आठ साल तक की प्रारंभिक शिक्षा की अनिवार्यता का दायित्व सरकार के कंधों पर रखा गया है। इसका मतलब यह है कि यदि कोई बच्चा स्कूल नहीं जाता है तो उसकी ज़िम्मेदारी सरकार की होगी और उसे ही दंडित भी किया जाना चाहिए। इसका बाल श्रम पर गहरा असर पड़ेगा। कानून बनने के बाद बच्चे का स्कूल नहीं जाना अवैध माना जाएगा जिससे स्कूल समय के दौरान सभी प्रकार के बाल

श्रम, चाहे वह खतरनाक हो या नहीं, पर रोक लग सकेगी।

हालांकि यह विधेयक इस बात पर चुप्पी साधे हुए है कि स्कूल के पहले और उसके बाद बच्चा कोई काम कर सकता है अथवा

नहीं। इसलिए बच्चे को बाल श्रम से पूरी तरह मुक्त करने और शिक्षा के मूल अधिकार का लाभ दिलाने के लिए बाल श्रम कानून 1986 में संशोधन किया जाना ज़रूरी होगा। इसके अलावा विधेयक में यह भी साफ नहीं किया गया है कि अगर कोई बच्चा स्कूल की बजाय श्रम करते पाया जाता है तो इसके लिए किस व्यक्ति या एजेंसी को ज़िम्मेदार ठहराया जाएगा।

क्रियान्वयन के मामले में विधेयक काफी कमज़ोर नज़र आता है। इसमें कहा गया है कि किसी भी प्रावधान के उल्लंघन की शिकायत मिलने पर उसे सबसे पहले स्थानीय प्रशासन के पास भेजा जाएगा। समस्या यह है कि इस शिकायत पर फैसला वही एजेंसी करेगी जो नियमों के उल्लंघन के लिए ज़िम्मेदार है। हालांकि विधेयक में बाल अधिकार संरक्षण के लिए राष्ट्रीय आयोग और इसी प्रकार राज्यों में प्रदेश आयोग बनाने का प्रस्ताव किया गया है जो ऐसी शिकायतों पर कार्रवाई करेंगे, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो दूरस्थ इलाकों की शिकायतें इन आयोगों तक पहुंचना मुश्किल ही होगा।

विधेयक की एक बड़ी खामी यह है कि इसमें किसी भी प्रावधान के उल्लंघन पर सज़ा की मात्रा का उल्लेख साफ तौर पर नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए विधेयक में कहा गया है कि जन्म प्रमाण-पत्र या स्थानांतरण प्रमाण-पत्र के अभाव की वजह से अथवा सत्र शुरू हो जाने के बाद भी बच्चे के दाखिले से इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन सवाल यह है कि इसकी निगरानी कौन करेगा? क्या स्थानीय निकाय अभिभावकों की सुनेंगे?

और अब लागत की बात। गांधीजी के 1937 के

आह्वान के समय से ही सभी को अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने के विरोध में यह तर्क दिया जाता रहा है कि आर्थिक दृष्टि से ऐसा करना किसी भी सरकार के बूते के बाहर होगा। गांधीजी यह सुनकर चकरा गए

कानून बनने के बाद बच्चे का स्कूल नहीं जाना अवैध माना जाएगा जिससे स्कूल समय के दौरान सभी प्रकार के बाल श्रम, चाहे वह खतरनाक हो या नहीं, पर रोक लग सकेगी। हालांकि यह विधेयक इस बात पर चुप्पी साधे हुए है कि स्कूल के पहले और उसके बाद बच्चा कोई काम कर सकता है अथवा नहीं।

थे कि यदि उन्होंने सभी को शिक्षा की अनिवार्यता पर जोर दिया तो इसके लिए धन की व्यवस्था केवल शराब की बिक्री से ही संभव हो सकेगी। हालांकि 1993 में उन्नीकृष्णन मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि शिक्षा का अधिकार मामले में धन तभी आड़े आएगा जब सरकार 14 साल से बड़े बच्चों को भी निःशुल्क शिक्षा प्रदान करती है, लेकिन तब सरकार ने इस पर ध्यान नहीं दिया था। अब जब 2005 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार मंडल (केब) मौजूदा विधेयक का मसौदा तैयार कर रहा था, तब राष्ट्रीय शिक्षा नियोजन व प्रशासन विश्वविद्यालय ने विभिन्न दृष्टि से लागत का आकलन किया था। प्रत्येक मामले में यही सामने आया कि यह लागत सकल घरेलू उत्पाद के 6 फीसदी के दायरे के भीतर ही थी, जिसका वादा यूपीए सरकार के न्यूनतम साझा कार्यक्रम में किया गया था।

1937 में गांधीजी के समय देश की जो आर्थिक स्थिति थी, आज हालात उससे कहीं बेहतर होने के बावजूद सरकार के रुख में कोई बदलाव नहीं आया है। प्रधानमंत्री द्वारा गठित उच्च स्तरीय समूह ने अपनी अनुशंसा में कहा कि इस सम्बंध में राज्य सरकारों को अपने-अपने कानून बनाने चाहिए। केंद्र सरकार ने महसूस किया कि इस योजना को केंद्र द्वारा धनराशि उपलब्ध करवाने पर उस पर बहुत ज्यादा बोझ पड़ेगा, साथ ही उसे अदालती मामलों से भी निपटना होगा। इसलिए राज्यों को ही यह ज़िम्मेदारी उठानी चाहिए, जिसके लिए केंद्र भी अपनी ओर से सहायता देगा। लेकिन राज्य सरकारों द्वारा केंद्र की सिफारिशों को नामंजूर करने और आम चुनाव की पूर्व संध्या पर ऐसे किसी विधेयक की राजनीतिक महत्ता को समझते हुए केंद्रीय सरकार ने ही अपना कानून बनाने का फैसला किया।

लेकिन मार्च 2008 में बजट सत्र में सम्बंधित विधेयक पेश नहीं किया जा सका। इस बार विवाद योजना के लिए केंद्र और राज्यों के बीच धनराशि के बंटवारे को लेकर पैदा हो गया। इसलिए इसे एक बार फिर से विचार के लिए मंत्रियों के समूह के सुपुर्द कर दिया गया।

अंततः विधेयक के मसौदे में एक बदलाव किया गया जिससे अब तक अनिच्छुक रहे योजना आयोग और वित्त मंत्रालय भी संतुष्ट नज़र आ रहे हैं। यह विधेयक केंद्र सरकार को धारा 280 के तहत राष्ट्रपति से इस बाबत निवेदन करने का अधिकार देता है कि वे वित्त आयोग को किसी भी राज्य सरकार को आवश्यक धनराशि सीधे ही जारी करने के लिए निर्देशित करें।

पिछले साल लगाए गए एक अनुमान के अनुसार सभी को अनिवार्य शिक्षा पर 11वीं योजना के बचे हुए चार सालों में केंद्र और राज्य सरकारों को मिलकर 48,000 करोड़ रुपए अतिरिक्त खर्च करने होंगे। सभी बच्चों के पढ़ोस में स्कूल शुरू करने हेतु राज्यों के पास अभी तीन साल का समय है। नए मानदंडों के अनुरूप शिक्षकों की नियुक्ति करने के लिए भी उनके पास पांच साल का समय बाकी है।

इस विधेयक के पारित हो जाने के बाद एक जटिलता यह पैदा हो जाएगी कि इससे राज्यों में प्राथमिक शिक्षा सम्बंधी कानून समाप्त हो जाएंगे, लेकिन इस नए कानून को लागू करने के लिए प्रत्येक राज्य को कुछ नियम बनाने होंगे। ये नियम ऐसे होने चाहिए ताकि केंद्रीय कानून की मूलभूत प्रकृति अक्षुण्ण बनी रहे। इसलिए बेहतर यही रहेगा कि केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय ही सभी राज्यों के लिए मानक नियम जारी कर दे और राज्य अपनी-अपनी ज़रूरत के अनुरूप उन्हें अपना लें।

लेकिन ये सब बातें भविष्य की हैं। अभी की चिंता तो यह है कि यदि चुनाव के पहले विधेयक पारित नहीं हुआ तो क्या होगा। चूंकि इसे राज्य सभा में पेश किया गया है, इसलिए यह निरस्त या लैप्स तो नहीं होगा, लेकिन फिर भी इसका भविष्य अगली सरकार की प्राथमिकताओं पर निर्भर करेगा। इतिहास इस बात का गवाह रहा है कि सरकारें तमाम संवैधानिक प्रतिबद्धताओं के बावजूद सभी के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा पर खर्च करने में ना-नुकर करती रही हैं। क्या अब यह प्रवृत्ति बदलेगी? (**स्रोत फीचर्स**)